Printed and published by K. Mittra at the
Indian Press, Ltd., Allahabad.

प्रस्तावना

इस पुस्तक में जो तीन परिच्छेद हैं वे लेखरूप से पहले-पहल जबलपुर से किसी समय निकलनेवाली "श्रीशारदा" नामक मासिक पत्रिका में छपे थे। लोगों में "मौलिकता" के विषय में बहुत काल से वाद-विवाद चला आ रहा है और इस विषय में बड़ा मतभेद अब तक बना है। "श्रीशारदा" का प्रचार अधिक न था। इस कारण मेरे ये लेख बहुत कम लोगों की दृष्टि में पड़े। इसलिए इन्हें मैंने पुस्तकरूप से छपवाना आवश्यक समझा। आशा है कि इससे मौलिकता के विषय का झगड़ा बहुत कुछ दूर हो जायेगा।

गोपाल दामोदर तामस्कर

विषय-सूची

मौलिकता

पहला परिच्छेद

मौलिकता का अर्थ

किसी भी शिक्षा की जाँच उसके फल से हो सकती है। यदि
में वास्तविक मौलिक साहित्य उत्पन्न होने लगा तो समझना
हिए कि शिक्षा का उचित फल मिल गया। परन्तु शिक्षा-
रक, संपादक, तथा राजकीय नेता, या यों कहिए कि
दुस्थान के सभी समझदार लोग सदैव कहा करते हैं कि
दुस्थान में मौलिकता का अत्यन्त अभाव है। इस दोष का
रण बहुत से लोग वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के मत्थे मढ़ा करते
इसका मौलिकता से जो सम्बन्ध है, उसका यहाँ पर
दर्शन कराना आवश्यक है।

प्रकाशक और संपादक 'मौलिक' लेख तथा पुस्तकें चाहते
यदि कभी उनसे प्रश्न किया जाय कि आप 'मौलिकता'
से कहते हैं, तो वे उत्तर नहीं दे सकते। कभी कभी तो उनके
तों से ऐसा जान पड़ता है कि कैसे भी लेख या पुस्तकें
पर उन्हें तुम 'मौलिक' अवश्य कहो। अनुवाद पर तो वे
घृणा करते हैं। ऐसी अवस्था में 'मौलिकता' के अर्थ का,
के अभाव का और इस अभाव को दूर करने के उपायों का
विचार करना आवश्यक है।

'मौलिकता' का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ यह है कि किसी लेख में जो विचार आदि से अन्त तक लिखे हों वे सब बिना किसी अपवाद के लेखक के सिर से निकले हों? परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता। हमारे और आपके बहुतेरे विचार, निन्यानवे दशमलव नौ से भी अधिक, दूसरे ग्रंथों के आधारभूत होते हैं। यहाँ पर मनोविज्ञानमूलक ज्ञान-प्राप्ति की रीतियों की मीमांसा की आवश्यकता नहीं। प्रारम्भ में बालक स्वाभाविक रीति के अनुसार वस्तुओं के सम्पर्क से जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह प्रत्यक्ष एवं अनुभव-जन्य रहता है। बड़ा होने पर वह अप्रत्यक्ष ज्ञान भी पुस्तकों और मनुष्यों से प्राप्त करता है। यदि वह सारा ज्ञान प्रत्यक्ष प्राप्त करने का विचार करे तो एक क्या, लाखों जन्म उसे चाहिए कि तब उसे विद्वान् कहलाने की योग्यता प्राप्त होगी। जिनको इस विषय में अधिक जानना हो और हमारे कथन की सत्यता की जाँच करना हो, वे शिक्षातत्त्व-सम्बन्धी कोई भी पुस्तक देख लें। प्रत्यक्ष ज्ञान से विद्यार्थी का मौलिक ज्ञान अवश्य बढ़ेगा, परन्तु उसके समस्त ज्ञान का संचय एक पूरे जन्म में एक छोटी सी पुस्तक के ज्ञान के बराबर भी न होगा। यदि ज्ञान बढ़ाना हो तो अप्रत्यक्ष ज्ञान का बहुत कुछ उपयोग करना ही होगा। प्रत्यक्ष ज्ञान की मौलिकता इसमें बहुत कम हो सकती है। हाँ, अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने पर इस प्रकार की थोड़ी बहुत मौलिकता मनुष्य में आ सकती है; पर वह भी थोड़ी ही रहती है और कचित् ही देख पड़ती है।

इस विवेचन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि मौलिकता का यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह ज्ञान अन्यत्र न देख पड़े। इस अर्थ में मौलिकता कहीं भी नहीं देख पड़ेगी। आज तक तो ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं हुआ कि जिसका सब

ज्ञान उसी का प्राप्त किया हुआ हो और पहले वह और किसी मनुष्य को मालूम भी न हो। ऐसे मनुष्य के होने की सम्भावना भी नहीं है।

मौलिकता का यदि यह अर्थ नहीं है कि समस्त ज्ञान हमारा ही प्राप्त किया हो तो फिर क्या अर्थ हो सकता है? इसका वास्तविक अर्थ जानने के लिए मौलिकता की दृष्टि से साहित्य के भिन्न भिन्न अङ्गों का विवेचन करना होगा।

मौलिकता की दृष्टि से साहित्य के दस भाग किये जा सकते हैं:—(१) कल्पनात्मक, (२) प्रयोगात्मक, (३) अवलोकनात्मक, (४) अनुमानात्मक, (५) वर्णनात्मक, (६) आलोचनात्मक, (७) अनुवादात्मक, (८) आधारात्मक, (९) संग्रहात्मक और (१०) आवेशात्मक। पुस्तकों में दिये ज्ञान की सृष्टि पहले-पहल जिस रीति से हुई उस रीति की प्रधानता के अनुसार ये भाग किये गये हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि एक भाग की पुस्तकों में दूसरी रीतियों का अवलम्बन नहीं किया जाता। कल्पनात्मक पुस्तकों में अवलोकनात्मक, अथवा अनुमानात्मक ज्ञान रह सकता है। ऐसे ही, प्रयोगात्मक पुस्तकों के ज्ञान के लिए अवलोकन या अनुमान का भी उपयोग हो सकता है। किसी पुस्तक में प्रधानतया जिस रीति का उपयोग हुआ है उसके अनुसार ही यह वर्गीकरण स्थिर किया है। अब हम इन दस वर्गों का विस्तार-पूर्वक विवेचन करेंगे।

(१) शिक्षा, अवलोकन और अनुमान के द्वारा प्राप्त किये ज्ञान को हम किसी खास उद्देश की पूर्ति के विचार से, कल्पना के आधार पर, किसी नये ढाँचे में ढाल सकते हैं। जो कुछ लिखा जाता है वह पहले से सिर में भरा रहता है। जो कुछ नया है वह उद्देशवाली कल्पना है। यह कल्पना ही संचित ज्ञान को विशिष्ट रूप में ढाल देती है। कल्पना ही इस

रचना की आत्मा होती है और वही उसका शरीर भी निश्चित करती है। इस कारण ऐसे ग्रन्थों को कल्पनात्मक कहते हैं। ऐसी पुस्तकों में मनुष्य-जीवन के व्यापार के सम्बन्ध की बातें ही बहुधा रहती हैं। मनुष्य इस जड़जीवात्मक सृष्टि को जिस दृष्टि से देखता है, उसका इन पुस्तकों में मूर्तरूप रहता है। उपन्यास, नाटक, काव्य आदि इसके उदाहरण हैं। कल्पना ही इनकी मौलिकता है और यही विशेषता भी है।

(२) प्रयोग या प्रत्यक्ष परीक्षा के द्वारा इस सृष्टि-सम्बन्धी बहुत सा ज्ञान हम प्राप्त कर सकते हैं, पृथ्वी पर की अनेक वस्तुओं के विविध परिणाम जान सकते हैं, उनके कार्य-कारण-सम्बन्ध ढूंढ़ सकते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य के शरीर का भी विज्ञान इसी प्रकार जान सकते हैं। बहुत से भौतिक विज्ञान इसी तरह पैदा हुए हैं। रसायनशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, भूगर्भविद्या, शरीररचना, वैद्यविद्या इत्यादि इसके उदाहरण हैं। कृषि, पशु-अमन-विद्या, आरोग्य-विज्ञान, पाक-विद्या इत्यादि इसी वर्ग में हैं। जिस विद्या या कला के जानने के लिए प्रयोग ही प्रधान रीति है वे सब इस वर्ग में शामिल हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन विज्ञानों के लिए कल्पना, अवलोकन या अनुमान का उपयोग नहीं होता। इनके बिना तो काम चलेगा ही नहीं। विधायक कल्पना का किसी भी नई बात को रचने या जानने के लिए बड़ा भारी उपयोग है, अवलोकन के बिना किसी भी विज्ञान की सब सामग्री एकत्र नहीं हो सकती, और अनुमान के बिना कोई तत्त्व या सिद्धान्त नहीं जाना जा सकता। प्रयोगात्मक ज्ञान में इन सबका उपयोग होता है। पर प्रयोग से ही इसकी विशेष सामग्री एकत्रित होती है, इसलिए वही ऐसे ज्ञान की मौलिकता की द्योतक है।

(३) कुछ ज्ञान ऐसा रहता है, जिसके लिए प्रत्यक्ष प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उसकी प्राप्ति के लिए हमें सृष्टि का अवलोकन करना पड़ता है। जीवों के व्यापार इसी तरह जाने जाते हैं। वायुमान के परिवर्तन का ज्ञान अवलोकन-जन्य ही होता है। पृथ्वी पर जो बड़े बड़े परिवर्तन हुआ करते हैं उनके जानने के लिए और कोई मार्ग नहीं है। इस तरह के ज्ञान की मौलिकता अवलोकन पर निर्भर है।

(४) प्रयोग और अवलोकन के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके आधार पर अनेक अनुमान निकाले जाते हैं। इन अनुमानों को क्रमबद्ध करके अनेक शास्त्र रचे जा सकते हैं। वर्णनात्मक ज्ञान का भी इसके लिए उपयोग होता है। इसके उदाहरण अध्यात्म-विद्या, मनोविज्ञान, शिक्षणशास्त्र, नीतिशास्त्र, राज्यविज्ञान, समाज-रचनाविज्ञान, गणित, तर्कविज्ञान (न्याय), व्याकरण, रचनाशास्त्र, सम्पत्तिशास्त्र, इत्यादि हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं जिनके अनुमान की मूलाधार सामग्री केवल अवलोकन पर अवलम्बित है; इसलिए वे एक दृष्टि से अवलोकनात्मक भी देख पड़ते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अवलोकन द्वारा एकत्र किये ज्ञान से जब तक अनुमान न निकाले जायँ, तब तक वह किसी काम का नहीं। हम केवल अवलोकनजन्य ज्ञान नहीं चाहते; हम चाहते हैं अनुमानों को जानना। इसलिए अवलोकन की सामग्री कितनी भी अधिक क्यों न हो और अनुमान कितने भी कम क्यों न रहें, ऐसी पुस्तकें अनुमानात्मक ही कहलावेंगी। यदि अनुमानों के आधार पर व्यवहारोपयोगी किसी विद्या की नींव रखी जाय तो उसे भी इसी वर्ग में रखेंगे। शिक्षणशास्त्र ऐसी ही विद्या है। व्यापार-विद्या उसी के समान है। ऐसी पुस्तकों की मौलिकता अनुमान में है।

(५) इस पृथ्वी का अथवा उस पर रहनेवाले मनुष्यों का अथवा उनके कार्यों का ज्ञान जिन पुस्तकों में रहता है वे वर्णनात्मक वर्ग में शामिल हैं। पुरातत्त्व, इतिहास और उसके अनेक अंग, भूगोल का वर्णनात्मक भाग, प्रवासवर्णन, चरित्रलेखन इत्यादि इसके उदाहरण हैं। सामग्री एकत्रित करने में और उसका उपयोग कर क्रमबद्ध वृत्तान्त लिखने में ही इस प्रकार की पुस्तकों की मौलिकता है। सामग्री भिन्न होने से वृत्तान्त भिन्न हो सकते हैं। वही सामग्री रहने पर भी वृत्तान्त भिन्न हो सकता है; क्योंकि वृत्तान्त सामग्री के उपयोग पर भी अवलम्बित है। अनुमान और चिकित्सक बुद्धि से भी इन पुस्तकों में विशेषता देख पड़ती है। भाषा भी इनका बड़ा प्रधान अंग है। सारांश यह है कि इन पुस्तकों की सामग्री यद्यपि प्रयोग करके एकत्रित नहीं होती, तो भी इन पुस्तकों की मौलिकता विविध प्रकार की होती है।

(६) कुछ पुस्तकों या लेखों की सृष्टि दूसरी पुस्तकों की आलोचना के कारण होती है। साधारण साहित्य ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों इस तरह के साहित्य की, गुणदोष-विवेचनात्मक पुस्तकों की, वृद्धि होती है। इनकी रचना चिकित्सक बुद्धि पर अवलम्बित रहती है। समालोचक को ज्ञान की आवश्यकता है ही, पर चिकित्सक बुद्धि के बिना यह कार्य होना कठिन है। इसलिए ऐसी पुस्तकों की मौलिकता इसी पर प्रधानतया अवलम्बित रहती है।

(७) कुछ पुस्तकें ऐसी रहती हैं जो दूसरी पुस्तकों का वेश पलटने से तैयार होती हैं। इन्हीं को लोग अनुवाद कहते हैं। इनके कम से कम चार उपभेद किये जा सकते हैं। (क) पहले उपभेद में केवल पुस्तकें आती हैं जो शाब्दिक अनुवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। एक पुस्तक की वाक्य-रचना को ज्यों की

त्यों दूसरी भाषा में कर देना जिसमें पहली भाषा के विचार ज्यों के त्यों दूसरी में आजावें यह शाब्दिक अनुवाद का काम है। 'शाब्दिक' शब्द बहुतांश में उचित है। बहुधा एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में परिवर्तित कर दिये जाते हैं। दूसरी भाषा की वाक्य-रचना और मुहावरे के अनुसार शब्द-क्रम में थोड़ा बहुत परिवर्तन अवश्य होता है। ऐसा किये बिना एक भाषा के विचार दूसरी में स्पष्टतया न उतरेंगे। परन्तु यह परिवर्तन न तो महत्त्वपूर्ण रहता है और न अधिक ही। इस परिवर्तन की तुलना वेशपरिवर्तन से अच्छी की जा सकती है। यदि अनुवाद अच्छा हुआ तो समालोचक कह देते हैं कि 'भाषा सरल, शुद्ध और मुहावरेदार है, अनुवाद अच्छा हुआ है'। (ख) दूसरे प्रकार के उपभेद में वाक्य के लिए वाक्य और प्रत्येक शब्द के लिए शब्द नहीं रहता। वाक्यों का भाव देखकर उनका अनुवाद होता है। कहीं एक ही वाक्य के आधार पर दो तीन वाक्य लिखे जाते हैं, तो कहीं दो तीन वाक्यों के स्थान पर एक ही वाक्य रहता है। परन्तु बहुधा सब विचारों का क्रम ज्यों का त्यों रहता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसे अनुवाद को लोग भावानुवाद कहते हैं। (ग) तीसरे तरह का अनुवाद छायानुवाद कहलाता है। भावानुवाद और छायानुवाद में वास्तविक कोई विशेष भेद नहीं होता। जो कुछ भेद होता है, वह आंशिकमात्र रहता है। छायानुवाद में अनुवादक अधिक स्वतंत्रता से काम लेता है। वाक्यों के वाक्य कहीं छोड़ देता है, तो वाक्यों के वाक्य कहीं जोड़ देता है। कहीं अर्थ को कई तरह प्रकट करता है, तो कहीं अधिक अथवा सर्वसुलभ उदाहरण देकर उसे अधिक स्पष्ट करता है। (घ) कुछ पुस्तकें दूसरी भाषा की पुस्तकों के मर्मानुवाद कही जा सकती हैं। मूल पुस्तक के विचार उसी क्रम से आते हैं

पर वाक्य-रचना में कोई मेल नहीं रहता। पहली का 'मर्म' दूसरी में ज्यों का त्यों आता है, इसी लिए इन्हें 'मर्मानुवाद' कहते हैं। इनको 'सारांश' ही कहना बेहतर है। जिस प्रकार एक पुस्तक का सारांश हो सकता है, उसी प्रकार एक पुस्तक के विविध भाग अनेक पुस्तकों के अथवा उनके परिच्छेदों के सारांश हो सकते हैं। ऐसी पुस्तक अनेक पुस्तकों का अथवा अनेक पुस्तकों के परिच्छेदों का मर्मानुवाद ही है।

शाब्दिक अनुवाद में लोग कुछ भी मौलिकता नहीं मानते। भाषा की मौलिकता को कोई भी मौलिकता नहीं कहते। मौलिकता मानी जाती है विचाररूपी जीव की, भाषारूपी वेश की नहीं। भावानुवाद में शाब्दिक अनुवाद से कुछ थोड़ी मौलिकता मान सकते हैं। भावों का अर्थ समझकर कम या अधिक वाक्यों में कह देना बिना कुछ मौलिकता के नहीं हो सकता। तथापि उसमें अनुवादक के विचार न होने के कारण उन्हें लोग मौलिक नहीं कहते। छायानुवादों में भावानुवाद की अपेक्षा अधिक मौलिकता रहती है। विचारों में ऐक्य हुए बिना इतनी स्वतंत्रता से अनुवाद नहीं हो सकता। मर्मानुवाद में इससे भी अधिक मौलिकता देख पड़ती है। इनमें विचार लेखक के होकर बाहर निकलते हैं और यदि मर्मानुवाद अनेक पुस्तकों के आधार पर किया गया हो तो मौलिकता की मात्रा और भी बढ़ जाती है। इस प्रकार इन चार पाँच प्रकार के अनुवादों में मौलिकता की मात्रा कम से बढ़ती हुई देख पड़ती है।

(८) कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जो आधारात्मक कही जा सकती हैं। आधारात्मक पुस्तकें और मर्मानुवादों में कुछ मुख्य भेद है। मर्मानुवाद को हमने सारांश कहा है। मूल पुस्तक के विचार इनमें उसी क्रम से संक्षेप में आते हैं। कहीं

का स्पष्टीकरण, उदाहरण आदि बहुधा वे ही रहते हैं; पर आधारात्मक में यह बात नहीं रहती। मूल-पुस्तक के मुख्य विचारों को लेकर लेखक अपने ही तर्क, अपने ही विचारक्रम, अपनी ही भाषा, अपने ही उदाहरण देकर, एक नई पुस्तक तैयार कर देता है। इसमें अगर मौलिकता किसी बात की नहीं है तो उन आधारभूत, 'मुख्य' विचारों की। बाक़ी सब तरह की मौलिकता इसमें देख पड़ती है। इसी कारण लोग इन्हें भाषानुवाद से अधिक आदर-दृष्टि से देखते हैं, उनका अधिक मान करते हैं। यदि अनेक पुस्तकों का अथवा अनेक पुस्तकों के भिन्न भिन्न भावों का आधार लिया गया हो तो मौलिकता और भी बढ़ जाती है। जितनी पुस्तकों का आधार लिया जावेगा, उतनी ही मौलिकता बढ़ती जावेगी। हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि हमारा बहुत-सा ज्ञान पुस्तकों या मनुष्यों से प्राप्त किया हुआ रहता है। इसी प्रकार यदि अनेक पुस्तकें पढ़कर कोई पुस्तक तैयार की, तो उसकी मौलिकता बहुतांश में माननी होगी। बहुत से लेखक अपने पर दूसरों का कितना ऋण है यह दिखलाने के लिए पुस्तकों के नाम अपनी पुस्तक में दे देते हैं। कोई कोई तो आदि में ही लिख देते हैं, कोई अन्त में लिखते हैं, कोई प्रत्येक परिच्छेद या भाग के बाद लिखते हैं, कोई प्रत्येक परिच्छेद या भाग के आरम्भ में लिख देते हैं, तो कोई स्थान स्थान पर लेख के भीतर या पाद-टिप्पणियों में दे देते हैं। पहले चार क्रम नितांत उचित हैं। यदि पुस्तकों के 'आधार' पर ज़ोर देना हो तो बात अलग है, नहीं तो लेख के भीतर या पाद-टिप्पणियों में आधार-भूत पुस्तकों के नाम देना ठीक नहीं। इससे पाठकों का ध्यान मूल विचार से उचट जाता है। उचित स्थान पर पुस्तकों के नाम दे देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस पुस्तक

में दिये विचार दूसरी पुस्तकों से लिये गये हैं। कभी कभी लेखक दूसरी पुस्तकों के विचारों को इतना अधिक मनन कर डालता है कि वह कह नहीं सकता कि कौन से विचार उसने कहाँ से पाये। ऐसी अवस्था में किन्हीं खास पुस्तकों का उपयोग किये बिना वह जो पुस्तक लिखता है वह ऊपर के क्रम से और भी अधिक मौलिक कही जाती है। लोग ऐसी पुस्तकों को बहुधा मौलिक कहते हैं। शायद इन पुस्तकों में थोड़े बहुत ऐसे विचार हों जो वास्तव में उसके निजी हों, जिन्हें उसने और कहीं से न लिया हो, चाहे फिर वे और पुस्तकों में लिखे भले ही हों। उसकी दृष्टि में वे उसके हैं। ऐसे विचारों की संख्या और उत्तमता के अनुसार पुस्तक की मौलिकता उत्तरोत्तर बढ़ती हो जावेगी और कदाचित् वह इतनी मौलिक हो जावे कि वह ऊपर बतलाये हुए किसी वर्ग में न रखी जा सके। ऐसी अवस्था में वह आधारात्मक नहीं कही जा सकती। आधारात्मक पुस्तकों का एक और उपभेद होता है और वह बहुत ही महत्त्व का है। अनेक पुस्तकों का आधार लेने पर भी पहले वर्ग की पुस्तकों के समान लेखक का कोई मुख्य उद्देश हो सकता है। लेखक अनेक पुस्तकों का आधार लेकर कुछ नया तत्त्व, कुछ नया सिद्धान्त, कुछ नई बात, सिद्ध करना चाहता है। ऐसी अवस्था में 'आधारभूत' पुस्तकों पर ज़ोर दिया जाता है। इस कारण स्थान स्थान पर लेख में अथवा पाद-टिप्पणियों में उनके नाम बताने पड़ते हैं। परन्तु लेखक उन सबका वेग अपने ही उद्देश-सिद्धि की ओर बढ़ाता है। उसकी सबसे अधिक मौलिकता इसी में है। पहले वर्ग की पुस्तकों का उद्देश बहुधा तात्त्विक सृष्टि का नहीं होता और स्पष्ट नहीं बतलाया जाता; पर यहाँ बतलाये हुए प्रकार की पुस्तक का उद्देश व्यवहारोपयोगी रहता है

और वह स्पष्टतया बतलाया जाता है। बहुधा ऐसी पुस्तकें तात्त्विक अथवा अनुमानात्मक रहती हैं; इसलिए वे उसी वर्ग में मानी जाती हैं। "गीतारहस्य" इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जो मर्मानुवाद और आधार की अनेक रीतियों से बनी रहती हैं। ऐसी पुस्तकों की संख्या अधिक होती है। उनकी रीतियों की कम या अधिक मात्रा के अनुसार उनकी मौलिकता कम या अधिक हो सकती है। पुस्तक देखे बिना उसकी मौलिकता की मात्रा का निश्चय करना कठिन है। कुछ पुस्तकें किन्हीं दूसरी पुस्तकों का 'सारांश' होती हैं; पर उनके लेखक उनका आधार नहीं बतलाते। इसलिए साधारण लोग उन्हें विचारपूर्वक लिखी हुई पुस्तकों के समान मौलिक समझ लेते हैं; पर उनकी 'मौलिकता' का पता विद्वानों को अच्छी तरह रहता है।

(६) कुछ पुस्तकें संग्रह-रूप रहती हैं। संग्रह मोटी तरह से तीन प्रकार के होते हैं—(क) शब्दकोश, (ख) नामकोश और (ग) अवतरण-संग्रह। कुछ शब्दकोश ऐसे रहते हैं जो एक वा अधिक मनुष्यों की मौलिक कृतियाँ होती हैं। उनकी रचना में किसी पुस्तक के क्रम का अथवा अर्थों का उपयोग नहीं किया जाता। ऐसे कोशों की रचना के लिए ज्ञान का उपयोग आवश्यक होता है; क्योंकि कौन अर्थ ठीक और कौन नहीं, इसका निर्णय ज्ञान पर ही अवलम्बित है। तथापि शारीरिक श्रम और सतत उत्साह की अत्यन्त आवश्यकता है। कोश की भी थोड़ी बहुत मौलिकता इनमें रहती है। परन्तु वास्तविक मौलिकता उचित और आवश्यक अर्थों के निर्णय में ही देख पड़ती है। जो शब्दकोश उसी तरह के दूसरे कोशों के आधार पर लिखे जाते हैं वे बहुधा सारांश-रूप रहते हैं। ऐसी पुस्तकों की मौलिकता

बहुत ही कम रहती है। (ख) नामकोशों में तो क़रीब क़रीब शारीरिक श्रम का ही काम रहता है। परिचय देने में थोड़ी बहुत मौलिकता हो सकती है। (ग) अवतरण-संग्रहों में जो निर्णय-बुद्धि लगती है, वही उसकी मौलिकता है। अवतरण जितने अच्छे, जितने विविध और जितने क्रमबद्ध होंगे उनमें उतनी ही अधिक मौलिकता देख पड़ेगी। इस प्रकार के कोई कोई संग्रह अच्छे मौलिक शब्दकोशों की बराबरी कर सकते हैं। "सुभाषितरत्नभाण्डागारम्" नामक संस्कृत-श्लोकों का संग्रह सारे हिन्दुस्थान में प्रसिद्ध है।

(१०) एक प्रकार की पुस्तकें और भी होती हैं जो किसी ख़ास पुरुष की रचना नहीं कही जा सकतीं। क़ानून की पुस्तकें इसी प्रकार की होती हैं। तथापि उनका मूलांश बहुधा एक अथवा अधिक लोगों का बनाया हुआ होता है। इस कारण ऊपर बतलाये अनेक वर्गों की थोड़ी बहुत मौलिकता उनमें हो सकती है। परन्तु उसका श्रेय लौकिक रीति से उसे अथवा उन्हें नहीं मिलता है। जिस रूप में वह सभा में स्वीकृत होता है, वह किसी ख़ास पुरुष अथवा पुरुषों का नहीं माना जाता। इसलिए ऐसी पुस्तकों की मौलिकता का अधिक विचार करना आवश्यक नहीं।

इस प्रकार हमने ऊपर जो मुख्य भी भेद बताये उनके संमिश्रण भी हो सकते हैं। उनके संमिश्रण के अनुसार मौलिकता का निर्णय होना उचित है। इन संमिश्रणों के इतने भेद और अन्य उपभेद हो सकते हैं कि उनका विचार करना हमारी शक्ति के बाहर है। मुख्य भेद और उनकी मौलिकता का स्वरूप हमने दिखा दिया है। उन्हीं के सहारे इन संमिश्रित कृतियों का निर्णय हो सकता है।

पुस्तकें मुख्यतया पहली ही रीति से तैयार होती हैं। मौलिक पुस्तकों का विचार करते समय अनुवादों को छोड़-देना होगा। शेष आठ प्रकार से मौलिक पुस्तकों की सृष्टि होती है। किस रीति का महत्त्व दूसरी से अधिक है, यह बतलाना कठिन है। अपने अपने लिए प्रत्येक रीति समान ही महत्त्व की है। जो पुस्तक एक रीति से लिखी जा सकती है वह दूसरी रीति से नहीं लिखी जा सकती। साहित्य की वृद्धि के लिए इन सभी रीतियों का अवलंबन करना आवश्यक होता है। मौलिकता का विचार करते समय ये आठ विभाग ध्यान में रखे जाने चाहिएं।

दूसरा परिच्छेद

मौलिकता का अभाव और उसे दूर करने के उपाय

पिछले परिच्छेद में हमने मौलिकता के भिन्न भिन्न स्वरूपों का दिग्दर्शन कराया है। अब हम सोच सकते हैं कि भारतवर्ष में मौलिकता का अभाव क्यों है और उसे दूर करने के क्या उपाय हैं।

(१) हमने जो आठ प्रकार की मौलिकता बतलाई है उसके अभाव का सबसे प्रथम कारण उच्च शिक्षा की कमी है। यह कारण इतना स्पष्ट है कि इसके अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं। जिस भारतवर्ष में मामूली हस्ताक्षर भी कर लेना सैकड़े पीछे पाँच आदमी ही जानें वहाँ की उच्च शिक्षा की दशा क्या बताई जाय? नये विचार और नई कल्पनायें उत्पन्न होने के लिए सबसे प्रथम आवश्यक बात शिक्षा है। कल्पनात्मक, अनुमानात्मक, वर्णनात्मक, आलोचनात्मक, आख्यानात्मक और संग्रहात्मक पुस्तकें तैयार करने के लिए पहले उचित शिक्षा चाहिए। कल्पनात्मक पुस्तकों में प्रधानतया दूसरों से, पुस्तकों से, अवलोकन से, सुनने से और अनुमान से जो बातें ज्ञात होती हैं उन्हीं को, समाज का अथवा मानव-चरित्र का चित्र खींचने के लिए, नये ढाँचे में ढाल देते हैं। कल्पना-शक्ति की आवश्यकता है ही, परन्तु अनेक तरह के ज्ञान की भी अत्यन्त आवश्यकता है। समाज के रीति-रिवाज और मनुष्य-स्वभाव का

ज्ञान तो और भी अधिक आवश्यक है। अवलोकन से और सुनने से हमें इस प्रकार का कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है; परन्तु बहुत सा ज्ञान पुस्तकों से मिलता है। कल्पना और तर्क-शक्ति को यदि स्वाभाविक देनगी भी मान लें, तो भी यह मानना ही होगा कि ये शक्तियाँ शिक्षा के द्वारा बहुत कुछ विकसित की जा सकती हैं। उचित अवलोकन करना भी शिक्षा पर बहुत कुछ निर्भर है। आज कल की रीति के अनुसार अच्छा इतिहास लिखने के लिए उच्च कोटि की सामान्य शिक्षा की आवश्यकता है; साथ ही, विशिष्ट शिक्षा की भी आवश्यकता है। आधारात्मक और संग्रहात्मक पुस्तकों की सृष्टि स्पष्टतया शिक्षा पर अवलम्बित है। दूसरी पुस्तकों का उचित उपयोग करके नई पुस्तकें बनाने के लिए उनके ज्ञान को अपनाने की शक्ति चाहिए और यह शक्ति शिक्षा के बिना नहीं आ सकती। जिन लोगों को प्रयोगात्मक मौलिक ज्ञान की खोज करना होता है वे जानते हैं कि जिस प्रयोगात्मक शास्त्र का ज्ञान-क्षेत्र बढ़ाना है उसका समस्त प्रचलित ज्ञान सबसे प्रथम आवश्यक है, इस ज्ञान के अभाव में यह नहीं मालूम हो सकता कि कौन सी बात और उसे कैसे खोजना चाहिए। कम से कम, समय समय पर परामर्श लेने के लिए, जो कुछ कर रहे हैं वह ठीक है या नहीं यह जानने के लिए किसी शास्त्र-पारंगत की अत्यन्त आवश्यकता है। सारांश, सबसे प्रथम आवश्यकता शिक्षा की है।

(२) यदि कोई यह कहे कि जितने लोग अच्छे पढ़े-लिखे हैं उन्होंने क्या किया है, तो इसका उत्तर यह है कि जहाँ जहाँ उचित प्रमाण में शिक्षा मिली है वहाँ वहाँ थोड़ी बहुत मौलिकता दीखने लग गई है। बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में जो मौलिक साहित्य उत्पन्न हुआ है, वह इस कथन का साक्षी है। उचित प्रमाण में शिक्षा मिलने पर शिक्षित पुरुषों के विचार

विचार-विनिमय-द्वारा बढ़ा करते हैं और इस प्रकार मौलिक विचार और कल्पनायें सूझा करती हैं। जिस प्रकार उचित परिस्थिति में बीज से नये बीज पैदा होते हैं, उसी प्रकार विचारों से नये विचार और कल्पनाओं से नई कल्पनाओं की सृष्टि होती है। यह माना कि केवल शिक्षा ही से काम नहीं चलता, उचित परिस्थिति की आवश्यकता है। तथापि सबसे प्रथम आवश्यकता है शिक्षा की। यह बात स्पष्ट है। भिन्न भिन्न प्रान्तों में उच्च शिक्षा का कितना प्रचार हुआ है, और वहाँ वहाँ कितनी मौलिक पुस्तकें उत्पन्न हुई हैं, यह जानने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। बङ्गाल, महाराष्ट्र और गुजरात का उदाहरण हम ऊपर बतला ही चुके हैं।

(२) शिक्षा से ही सम्बन्ध रखनेवाला कारण पुस्तक-प्रकाशन की अड़चन है। यदि मौलिक पुस्तकें तैयार करने के लिए शिक्षित पुरुष श्रम भी उठावें तो उन पुस्तकों के लिए प्रकाशक नहीं मिलते। यह बात सुनकर कई लोगों को आश्चर्य होगा; परन्तु बात बिलकुल सच है। लेखक जब किसी भी विषय की पुस्तक लिखने बैठता है, तो उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसे कौन छापेगा? पुस्तक तैयार हो जाने पर, प्रकाशक ढूँढ़ते ढूँढ़ते और अपनी पुस्तक को स्थान स्थान में भेजते भेजते वह थक जाता है, पुस्तक के कागज फट जाते हैं, खर्च भी खूब होता है और अन्त में लेखक निराश होकर अपनी पुस्तक संदूक में सदा के लिए बन्द कर देता है। अब आजकल भिन्न भिन्न भाषाओं में बहुत सी पुस्तक-मालायें निकल रही हैं और कुछ पुस्तकों का छपना सम्भव होगया है तथापि इस कठिनाई का शतांश भी अभी दूर नहीं हुआ है। सभी साहित्यों में मनोरंजक पुस्तकें अधिक प्रकाशित हुआ करती हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। किसी भी समाज में साधारण शिक्षा पाये

लोग अधिक होते हैं और उच्च शिक्षा पाये लोग बहुत कम। साधारण शिक्षा पाये लोग, अवकाश मिलने पर, मनोरंजन की सामग्री खोजा करते हैं। ज्ञान बढ़ाने की चेष्टा बहुत कम लोग करते हैं। दिन भर मेहनत करने पर श्रम के कार्य फिर से करना संभव नहीं रहता। इसलिए यदि वे मनोरंजन की सामग्री ढूँढ़ें तो यह उचित ही है। ऐसी अवस्था में मनोरंजक पुस्तकों का प्रचुरता से प्रकाशित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्रकाशक उन्हीं पुस्तकों को प्रकाशित करेंगे कि जिन्हें लोग शीघ्र खरीदेंगे। इस कारण लेखक भी वैसी ही पुस्तकें लिखेंगे। मौलिक पुस्तकों के लिखने में श्रम बहुत होता है; अतः इनके लेखकों को विशेष पारिश्रमिक मिलना चाहिए; पर प्रकाशक उतना देने को तैयार नहीं; क्योंकि उन पुस्तकों के अधिक बिकने की सम्भावना कम रहती है। इस प्रकार लेखन, प्रकाशन और शिक्षा परस्परावलंबित हैं। किसी भी मासिक पत्रिका के सम्पादक से यह पूछने से कि आप किस प्रकार के लेखों को अपनी पत्रिका में स्थान देते हैं, यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

(४) मौलिकता के अभाव का एक अंश शिक्षा-प्रणाली से सम्बन्ध रखता है। धुरन्धर विद्वान् पुरुष पैदा कर देने से ही शिक्षा का काम समाप्त नहीं हो जाता। उन पुरुषों में स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति भी होनी चाहिए। जो विद्या रटन्त रीति से दी जाती है उससे स्वतंत्र विचार पैदा होने की बहुत कम आशा रहती है। स्वतंत्र विचार की शक्ति शिक्षा-प्रणाली पर कुछ अंश में अवश्य निर्भर है। यदि बालकों को निज अनुभव का उपयोग करने का मौक़ा मिले, यदि वे अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर अनुमान निकाल सकें, आवश्यक अपेक्षा करने का अवसर पावें, मौलिक सामग्री के आधार पर

निज के अनुमान निकालने की आदत डालें, सारांश यह कि वे तोते न बनकर जीते-जागते मनुष्य बनें, तो उनमें मौलिक विचार पैदा होने की संभावना है। दो और दो चार सिखलाना दो तरह से हो सकता है। एक तो बालक को सीधा सीधा बतला देने से और दूसरा उसे दो वस्तुएँ एक बार गिनने को देना और फिर दो वस्तुएँ दूसरी बार, और फिर उन्हें एकत्र गिनने को कहने से। दूसरी रीति में बालक प्रत्यक्ष देख लेता है कि दो और दो चार होते हैं। पहली में वह अपने शिक्षक का बना बनाया ज्ञान ही रट लेता है। दूसरे प्रकार की शिक्षा कुछ अंश में अनुभव-मूलक है। इसी प्रकार की शिक्षा से बालक की मानसिक शक्तियों का विकास होता है और उसे मौलिक विचार सूझ सकते हैं। पुरानी शिक्षा-प्रणाली के स्थान में नई शिक्षा-प्रणाली प्रचलित करने का प्रयत्न हो रहा है। पर कई कारणों से वह अभी सफल नहीं हुई है, न अभी उसके लिए यथेष्ट प्रयत्न ही हुआ है। शिक्षा-शास्त्र के पारंगत शिक्षक बहुत ही कम हैं। निरीक्षकों की रीति, परीक्षा की प्रणाली इत्यादि बातें अभी पुरानी बनी हुई हैं; इस कारण यह नई शिक्षा-प्रणाली सफल नहीं हुई है; तथापि शिक्षा-शास्त्र यही कहते हैं कि शिक्षा देते समय बालक के अनुभव और मानसिक शक्तियों का यथासंभव अच्छा उपयोग करना चाहिए, ताकि बालक में स्वतंत्र विचार करने की शक्ति उत्पन्न हो। परीक्षा में भी इसी बात की जाँच करनी चाहिए और शिक्षक के कार्य का मूल्य इसी दृष्टि से होना चाहिए।

(५) मौलिक विचारों की उत्पत्ति के लिए उचित शिक्षा मिलने से ही काम न चलेगा। स्वतंत्र विचार करने के लिए, उन्हें परिपक्व करने के लिए, आवश्यकतानुसार उनकी सत्यता की जाँच करने के लिए उचित अवकाश की बड़ी भारी

आवश्यकता है। अपने यहाँ भी कुछ ऐसे लोग हैं जो स्वतंत्र विचार कर सकते हैं; पर द्रव्याभाव के कारण उन्हें यथेष्ट अवकाश ही नहीं मिलता है। रात-दिन पेट के धंधे में लगे रहते हैं, कुछ काल के बाद उनकी विद्या नष्ट हो जाती है, विचार करने की आदत छूट जाती है, अभ्यास करने की इच्छा नहीं रह जाती, दूसरों को अपने विचार बतलाने से जो आनन्द होता है उससे उनका प्रेम नहीं रह जाता और जीवन के ढर्रे में पड़ कर वे साधारण पुरुष बन बैठते हैं। आजकल इस देश में ऐसी बहुत कम संस्थाएँ हैं कि जहाँ विचारवान् विद्वान् पुरुष जाकर अपना जीवन ज्ञान के बढ़ाने में लगा सकें। इसके लिए करोड़ों रुपयों की आवश्यकता है, तब ही थोड़ी बहुत ऐसी संस्थाएँ पैदा होंगी और तब ही विद्वान् लोग स्वतंत्र विचार पैदा कर सकेंगे।

(६) जीवन की कठिनाइयों को दूर करने का स्वतंत्र अवसर न मिलने पर विद्वान् लोग सरकारी नौकरियों में लग जाते हैं। इस नौकरी के क्या परिणाम होते हैं यह सबको विदित ही है। वहाँ स्वतंत्र विचारों के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। यंत्रों के समान काम करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में मौलिकता किस प्रकार जीवित रह सकती है? फिर उसके फल-फूल देखने की आशा करना व्यर्थ है।

हमारा यह कहना नहीं है कि दूसरे देशों के सभी सरकारी नौकर स्वतंत्र ज्ञान की उत्पत्ति कर सकते हैं। परन्तु हम इतना कह सकते हैं कि अध्यापक और विशेष कर शिक्षक यह कार्य किया करते हैं। दूसरे विभागों की तुलना में शिक्षकों की दशा सभी देशों में अच्छी नहीं है। तथापि अनेक देशों में दूसरे सरकारी नौकरों की तुलना में यह बिलकुल ही बुरी नहीं है। परन्तु भारतवर्ष में बात बिलकुल विपरीत है। यहाँ

अच्छे विद्वान् या बुद्धिमान् जन न्याय-विभाग अथवा अमल-विभाग में लग जाते हैं, शेष शिक्षा-विभाग में आते हैं। फिर, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये शिक्षक मामूली ही लोग रहते हैं। ऐसी दशा में इन लोगों से स्वतन्त्र विचार की आशा करना व्यर्थ है। इतने पर भी सरकारी नियम बहुत कड़े रहते हैं। बिना आज्ञा के कोई पुस्तक न लिखो, एकबारगी पुरस्कार ले लो, पुस्तक खरीद के लिए बेंच डालो, तुम्हारा उससे कोई सम्बन्ध न रहे। ऐसे नियम स्थान स्थान पर देख पड़ते हैं। कौन प्रकाशक है जो एक ही बार किसी मौलिक पुस्तक का भर-पूर पुरस्कार देने की हिम्मत करेगा? ऐसी अवस्था में लेखक को थोड़े से पुरस्कार से सन्तुष्ट होना चाहिए। श्रम बहुत अधिक और पुरस्कार बहुत थोड़ा! इस दशा में मौलिक पुस्तकें किस प्रकार लिखी जा सकती हैं।

(७) शिक्षा-प्रणाली की एक बात और है जिसका मौलिकता से सम्बन्ध है। हमारे यहाँ की उच्च शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी भाषा है। इसके परिणाम कितने बुरे होते हैं यह अच्छी तरह से जान लेना न कठिन है, और न उनके विवेचन की यहाँ विशेष आवश्यकता ही है। परन्तु दो तीन बातों का विचार रखना चाहिए। एक तो श्रम और काल इतना अधिक लगता है जिसका कोई हिसाब नहीं। जितने समय में हम मैट्रिक्यूलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं उतने समय में विदेशी लोग अपनी भाषा में सब शिक्षा पाकर ग्रेजुएट हो जाते हैं। हम लोग ग्रेजुएट होते तक किसी काम के नहीं रह जाते। ऐसी अवस्था में ग्रेजुएट होकर मौलिक विचार करना जान बूझ कर ज़िन्दगी से हाथ धोना है। दूसरे, दूसरी भाषा के द्वारा पाया हुआ ज्ञान इतना स्पष्ट नहीं रहता कि उसके आधार पर मौलिक विचार हो सकें। ज्ञान-प्राप्ति के लिए भाषा का माध्यम आवश्यक है। परन्तु यदि भाषा

सीखने में ही सारा समय लग जावे, तो ज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी ? थोड़ी बहुत हुई भी तो वह अपरिपक्व रहेगी। फिर, विचार करने के लिए भी भाषा चाहिए। यदि हम अपने अनुभवों को जाँचने का प्रयत्न करें तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि हम अपनी मातृ-भाषा-द्वारा ही विचार किया करते हैं। विचार तो देशी भाषा-द्वारा और हमने जो थोड़ा कच्चा-पक्का ज्ञान भी पाया वह अँगरेज़ी में ! फिर विचार-प्रवाह ताज़गी के साथ कैसे बह सकता है ? विचार के मनोविज्ञान की दृष्टि से देखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक मालूम होता है कि हमारी शिक्षा देशी भाषा के द्वारा ही दी जाय। देशी भाषा की शिक्षा से मौलिक विचारों के उत्पन्न होने में भारी सहायता पहुँचेगी।

(८) शिक्षा का और मौलिक विचारों के प्रकाशनों का इतना प्रबन्ध होने पर मौलिकता के लिए उचित सामग्री की भी आवश्यकता है। प्रयोगात्मक ज्ञान बढ़ाने के लिए उचित प्रयोगशालायें चाहिए। हिन्दुस्थान में ऐसी कितनी प्रयोगशालायें हैं, जहाँ इसके लिए आवश्यक सामग्री उपस्थित है ? कहीं कहीं बेचारे शिक्षक प्रयत्न भी करते हैं, तो सामग्री की कठिनाई उपस्थित होती है। आवश्यक वस्तुयें नहीं हैं, आवश्यक यंत्र नहीं हैं या आवश्यक पुस्तकें नहीं हैं। यदि किसी ने कुछ निश्चय भी किया तो वह ऐसी निःसहाय अवस्था में कर ही क्या सकता है ? 'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः' की दशा होती है। कितने पुस्तकालय हैं, जहाँ सब आवश्यक पुस्तकें मिल सकती हैं और लेखक अपने सुभीते के अनुसार किसी पुस्तक का उपयोग कर सकता है ? इतिहास के लेखक को इन पुस्तकालयों की विशेष आवश्यकता होती है। इतिहास की बहुत सी सामग्री बाहर चली गई है। उसके एकत्र करने में कितना श्रम, समय और सम्पत्ति चाहिए यह प्रोफ़ेसर यदुनाथ

सरकार जैसे इतिहास-लेखक से पूछने पर मालूम हो सकता है।

(९) मौलिकता के अभाव के इन सब कारणों का एक बड़ा भारी सहायक कारण है। वह है सैकड़ों वर्षों की पराधीनता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पराधीनता के समय में मौलिकता की वृद्धि अधिक नहीं होती। यह बात मनो-विज्ञान से सम्बन्ध रखती है। पराधीनता के कारण यदि विचारों को दबाने की आवश्यकता बारबार पड़ती जावे, तो स्वतंत्र विचार की शक्ति ही नहीं रह जाती। बहुत से संस्कार जिस प्रकार परम्परा से चलते आते हैं, उसी प्रकार यह भी बात है। पराधीनता में केवल पेट की समस्या को हल करते करते सारा समय और सारी शक्ति लग जाती है। स्वतंत्र विचार के अभाव के कारण मौलिकता की आशा करना वृथा है। स्वराज्य के समय में नाना गुणों के साथ साथ मौलिकता का भी परिपोषण होता है।

(१०) मौलिकता के अभाव के मुख्य कारणों का हम विवेचन कर चुके। इन कारणों को जितने अंश में हम दूर कर सकेंगे, उतने ही अंशों में मौलिकता देख पड़ेगी। किस कारण का कितना परिणाम होता है यह बतलाना कठिन है। तथापि इतना सत्य है कि इन सबका थोड़ा न थोड़ा परिणाम अवश्य होता है। मौलिकता के लिए उचित शिक्षा ज्यों ज्यों बढ़ेगी, त्यों त्यों पुस्तकें अधिक बिकेंगी और त्यों त्यों प्रकाशक, लेखकों को अधिक पुरस्कार दे सकेंगे और इस प्रकार लेखकों की संख्या बढ़ेगी। उचित शिक्षा मिलने से मौलिक विचार करने की आदत बढ़ेगी और इससे मौलिक पुस्तकों की उत्पत्ति में सहायता होगी। ज्ञान की उत्पत्ति जिस प्रकार होती है उस प्रकार की शिक्षा मिलना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होना चाहिए। देशी भाषा पर पूरा प्रभुत्व

मिलने से ही उचित रीति से विचार हो सकता है। देशी भाषा के द्वारा शिक्षा मिलने से श्रम और समय की बचत तो होती ही है, साथ ही जो ज्ञान मिलता है वह स्पष्ट रहता है। इससे विचार करने में बहुत सहायता मिलती है। प्रयोगात्मक और अवलोकनात्मक ज्ञान के लिए यंत्र-सामग्री, रासायनिक वस्तुएं, बाग-बगीचे, खनिज पदार्थ, जीव-जन्तु की शालायें इत्यादि प्रयोग और अवलोकन की सामग्री चाहिए। अनुमानात्मक, आधारात्मक; वर्णनात्मक संग्रहात्मक और आलोचनात्मक पुस्तकों के लिए पुस्तकालयों की और पुरावस्तु-संग्रहालयों की अत्यन्त आवश्यकता है। उनमें सब आवश्यक पुस्तकें और वस्तुयें चाहिए। इनके अभाव में इस प्रकार का मौलिक ज्ञान देख पड़ना असम्भव ही है। शिक्षक सब देशों में ज्ञान के प्रचारक ही नहीं, किन्तु वर्धक भी अवश्य हुआ करते हैं। कुछ दूसरे धंधों के लोग भी यह काम करते हैं, तथापि लेखकों में शिक्षकों की ही संख्या विशेष रहती है। वे मौलिक कार्य कर सकें इसके लिए उन्हें अवकाश और शांति मिलनी चाहिए। जब तक उनके दुर्भाग्य के दिन दूर नहीं होते, तब तक उन्हें उचित अवकाश और शांति नहीं प्राप्त होगी। इस कारण वे मौलिकता की वृद्धि में हाथ नहीं बँटा सकेंगे। उनका दुर्भाग्य दूर होने से एक बात और होगी। वह यह है कि अच्छे अच्छे विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुष शिक्षा के कार्यों में लग सकेंगे—वे अन्य विभागों में जाकर अपना मानसिक विकास न खो बैठेंगे। उनके साहित्य-क्षेत्र में आने से मौलिक-साहित्य के बढ़ने में बड़ी सहायता मिलेगी। फिर ऐसी संस्थायें भी चाहिए कि जिनका उद्देश्य मौलिक साहित्य की वृद्धि करना हो। चाहे वे मौलिक पुस्तकों को अच्छा पुरस्कार दिया करें, अथवा मौलिक लेखकों को उचित वेतन पर रख कर उनसे मौलिक पुस्तकें लिखवायें। इसके लिए अन्य

आवश्यक सामग्री भी देनी होगी। इतना कर लेने पर भी स्वतन्त्र विचार के मार्ग में कुछ बाधायें रह गईं, तो वे स्वराज्य मिलने से दूर हो जावेंगी। मौलिकता के अभाव के इतने सब कारण जब तक दूर नहीं होते, तब तक 'मौलिकता मौलिकता' चिल्लाना अरण्य-रोदन है। इसके सिवा एक दो और उपाय सुझाये जा सकते हैं। सरकार या जनता किसी न किसी रूप में मौलिकता का आदर भी करे। पारितोषिक देकर या पदवी प्रदान कर लेखक का आदर किया जा सकता है। सरकार से पारितोषिक और पदवियाँ दूसरों को अधिक मिलती हैं, लेखकों को बहुत कम। ऐसी दशा में मौलिकता को उत्तेजना नहीं मिलती। लेखकों का वास्तविक आदर कैसे करना चाहिए यह हमें अभी सीखना ही है। मौलिक नाटकों के लिए एक और बात की आवश्यकता होती है। वह है नाटकमण्डलियों की स्थापना। जिन जिन प्रान्तों में नाटकमण्डलियाँ हैं, वहाँ दस बीस में एक दो उच्च कोटि के मौलिक नाटक देख ही पड़ते हैं। नाटक-मण्डलियाँ ही नाटकों का प्रचार करती हैं। केवल विज्ञापन से उनका अधिक प्रचार नहीं होता। इसका कारण स्पष्ट है। नाटक दृश्य काव्य है, श्रव्य नहीं। देखने में जो आनंद आता है वह पढ़ने में नहीं मिलता। इसलिए मौलिक नाटकों के लिए नाटक-मंडलियों की अत्यंत आवश्यकता है।

तीसरा परिच्छेद

मौलिकता का महत्त्व

मौलिकता दुर्लभ गुण है। वह सर्वत्र नहीं दिखलाई पड़ता। 'शैले शैले न माणिक्यं' के समान 'लेखे लेखे न मौलिक्यं' भी ठीक है। परन्तु इससे कोई यह न समझ ले कि मौलिकता केवल शोभामात्र है और दुर्लभता के कारण उसका मूल्य अधिक है। दुर्लभता से वस्तु की क़ीमत बढ़ ज़रूर जाती है; परन्तु उपयोगिता नहीं बढ़ती। किसी वस्तु के महत्त्व में उसकी दुर्लभता का ही विचार नहीं रहता, मुख्य विचार रहता है उपयोगिता का। लोहा बहुत दुर्लभ नहीं, परन्तु मनुष्य के लिए बहुत ही उपयोगी पदार्थ है और इसी कारण हमारे लिए उसका महत्त्व सोने की अपेक्षा अधिक है। इसी दृष्टि से मौलिकता के महत्त्व का विचार करना चाहिए।

मौलिकता में तीन प्रधान गुण होते हैं—(क) जिस देश में वह लेख लिखा जाता है उस देश की, (ख) जिस काल में लिखा जाता है उस काल की और (ग) जिस व्यक्ति-द्वारा लिखा जाता है उस व्यक्ति की छाया उसके लेख में बड़ी गहरी रहती है। प्रत्येक मनुष्य के विचार अपने ही देश और काल से अधिक मिलते-जुलते रहते हैं। इस कारण मौलिक विचारों का प्रभाव लोगों के मनों पर भरपूर होता है। व्यक्ति की छाया का परिणाम यह होता है कि लेख स्वाभाविक होता है, कृत्रिम नहीं। उसकी भाषा, उसकी विचारशैली आदि स्वाभाविक होने के कारण वह लेख ज़ोरदार होता है। इस कारण

मौलिक लेखों का मनुष्यों के मन पर और भी अधिक प्रभाव पड़ता है। लेख में स्वाभाविकता जितनी अधिक होगी उतना ही वह परिणामकारक होगा।

इन गुणों के कारण मौलिकता का महत्त्व किसी देश के लिए, किसी भी काल के लिए और किसी भी व्यक्ति के लिए बहुत अधिक है। अनुवाद में ये गुण नहीं पाये जाते। इस कारण उसका महत्त्व कम है। परन्तु अनुवाद के भी कई भेद होते हैं। उनमें भी थोड़ी बहुत मौलिकता आ सकती है। भावानुवाद, छायानुवाद, मर्मानुवाद—इनमें अनुक्रम से मौलिकता बढ़ती जाती है। इस कारण लोग भी उनकी क़ीमत इसी क्रम से करते हैं। 'आधारात्मक' पुस्तकों में मर्मानुवाद से भी अधिक मौलिकता रहती है, अर्थात् देश, काल और लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव उसमें अधिक देख पड़ता है। इस कारण 'आधारात्मक' पुस्तकों की क़ीमत भी अधिक है। इनमें कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। आधारभूत पुस्तकों की संख्या जितनी बढ़ती जायेगी, अर्थात् किसी एक पुस्तक के आधार की मात्रा जितनी कम होगी, उतनी ही किसी पुस्तक की मौलिकता बढ़ती जायेगी और लोगों में उसकी उपयोगिता अधिक होगी। इसी कारण लोग शाब्दिक अनुवादों को कम पसन्द करते हैं।

परन्तु भौतिक विज्ञान की बात कुछ भिन्न है। इस प्रकार के विज्ञान के तत्त्व सार्वदेशीय और सार्वकालिक सत्य होते हैं। देश और काल के परिवर्तन से उन तत्त्वों की सत्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। इस कारण इन पुस्तकों के अनुवाद किये बिना अन्य उपाय नहीं और लोग इन अनुवादों को बुरा भी नहीं कहते; तथापि इस विषय की भी पुस्तकें देश और काल की आवश्यकताओं को देखकर बनानी पड़ती हैं, अन्यथा उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। बहुधा नितांत मौलिक

पुस्तकों का तो अनुवाद होता है; परन्तु बाक़ी पुस्तकें भावात्मक ही बनाई जाती हैं।

कल्पनात्मक पुस्तकों में देश, काल और व्यक्तित्व के परिणाम बहुत ही क्या, सबसे अधिक रहते हैं। इस कारण ऐसी पुस्तकों का अनुवाद बहुत ही हीन लेख समझा जाता है। जो मूल पढ़ और समझ सकते हैं उनके लिए अनुवाद की आवश्यकता नहीं। जो मूल पढ़ और समझ नहीं सकते उनको अनुवाद से कोई विशेष लाभ नहीं; क्योंकि मूल की भाषा से अपरिचित होने के कारण उस देश के समाज और इतिहास की बातें मालूम होने की संभावना कम रहती है। समाज के रीति-रस्म और इतिहास को जाने बिना कल्पनात्मक पुस्तकों का पूरा रसास्वाद नहीं मिलता। हाँ, कोई भी समझदार पुरुष इतना अवश्य मानेगा कि इस प्रकार के कुछ उच्च ग्रंथों का अनुवाद बुरा नहीं। उनमें देश, काल और व्यक्तित्व न देख पड़ेंगे; परन्तु एक बात अवश्य रहेगी और वह है मनुष्य का स्वभाव। इसी दृष्टि से ये पुस्तकें पठनीय होती हैं। गंदी और रद्दी 'मौलिक' पुस्तकों की अपेक्षा उच्च कोटि के उत्तम ग्रंथों के अनुवाद कभी बुरे नहीं होते।

उल्लिखित गुणों के सिवा, मौलिकता में एक और गुण है और वह भी भारी महत्त्व का है। मौलिकता से दुनिया के ज्ञान-भाण्डार में वृद्धि भी होती है, अनुवादों से ज्ञान का केवल वितरण होता है। यह भेद भी बड़ा भारी है। मनुष्य की सदा इच्छा रहती है कि मैं ऐसा कुछ कार्य करूँ जो और किसी ने न किया हो। यह इच्छा मौलिकता की वृद्धि का कारण है और उसमें उसका महत्त्व भी है। मौलिक उत्पत्ति करने की इच्छा में ही मौलिक उत्पत्ति देखने की भी इच्छा समाविष्ट है। इस इच्छा के वश लोग नई नई रचना करने का

प्रयत्न करते हैं। जो ऐसा कर सकते हैं वे अपने को दूसरों से अधिक योग्य समझते हैं। इस कारण लोग दूसरों की योग्यता तभी मानते हैं कि जब उनमें भी कुछ नई बातें देख पड़ें। इस तरह नई बातें करने और देखने की इच्छा परस्परसम्बन्ध रहती है।

मौलिकता से व्यक्ति की ही योग्यता नहीं देख पड़ती; किन्तु राष्ट्रीय उन्नति भी जानी जाती है। व्यक्ति व्यक्ति के बीच बराबरी की जैसी इच्छा रहती है वैसी ही राष्ट्र राष्ट्र के बीच होती है। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र चाहता है कि हमारे देश में ऐसी पुस्तकें लिखी जावें जैसी दूसरे देशों में न लिखी गई हों। इस दृष्टि से भी लोग, जाने-अनजाने, मौलिक ग्रंथों का विचार किया करते हैं और इस कारण उनकी दृष्टि में ऐसे ग्रंथों का महत्त्व अधिक बना रहता है। यह स्पष्ट ही है कि मौलिक ग्रंथों का यह महत्त्व मनोभावना-मूलक भी है, केवल उपयोगिता-मूलक नहीं। इस कारण कभी कभी ग्रंथों की समालोचना युक्ति-हीन रहती है। ऐसे समय में मनोभावना को दूरकर केवल उपयोगिता की दृष्टि से पुस्तकों की समालोचना करनी चाहिए; परन्तु यह इच्छा नितांत बुरी नहीं है। उसमें भलाई का भी अंश है। वह यह है कि इस इच्छा से लोग मौलिक पुस्तकें लिखने की ओर झुकते हैं।

व्यक्ति समाज का एक अंग है। इस कारण समाज की इच्छाओं का उस पर भारी प्रभाव पड़ता है। समष्टि की इच्छायें व्यक्ति में भी थोड़े बहुत प्रमाण में अवश्य देख पड़ती हैं और इस प्रेरणा से भी नई पुस्तकों की सृष्टि लोग किया करते हैं। समाज में लोग आत्म-महत्त्व बढ़ाना अवश्य चाहते हैं; परन्तु यह भी जाने-अनजाने चाहते हैं कि अपने समाज का महत्त्व बढ़े। इसे सभी स्वार्थ ही कहेंगे; परन्तु अब यह

बहुत ताकी जाती है, लेखक पर जब वह बहुत अधिक मात्रा में लागू की जाती है, तब उसके बुरे परिणाम भी देखने में आते हैं। इसी कारण मनोभावना-मूलक महत्त्व को उपयोगिता-मूलक महत्त्व से हमने हीन माना है।

सारांश, मौलिकता का महत्त्व केवल इसी लिए नहीं है कि वह दुर्लभ और दुष्प्राप्य है, किन्तु उसका मनुष्य-समाज के लिए वास्तविक उपयोग है। अतएव उपयोगिता की दृष्टि से ही पुस्तकों की समालोचना करनी चाहिए। कोई पुस्तक अनुवाद-ग्रन्थ है, इसी कारण उसकी बुरी समालोचना करना या मौलिक है इसलिए उसे अच्छा कहना ठीक नहीं। मनोभावना-मूलक महत्त्व विचारणीय है, परन्तु उसे बहुत ताकना ठीक नहीं। राष्ट्रीय प्रगति का वह एक माप है और बहुतांश में राष्ट्रीय शिक्षा का परिणाम है। राष्ट्र की शिक्षा का प्रबन्ध जितना अच्छा होगा उतनी ही मौलिकता भी देख पड़ेगी।